भारतीय संघवाद की व्यवस्था एवं क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के आपसी संबंधों का विश्लेषण

डॉ. बैजु पंडित
(राजनीति विज्ञान)
बी.आर.ए.बिहार विश्वविद्यालय
मुजफ्फरपुर (बिहार)

सारांश

भारतीय संघीय व्यवस्था के लिए क्षेत्रवाद और उपक्षेत्रवाद से बढ़कर अधिक बुनियादी कोई अन्य विचार नहीं हो सकता। क्षेत्रवाद तभी पनपता है जब किसी क्षेत्र अथवा राज्य को यह महसूस होता है कि उसके उपर सांस्कृतिक वर्चस्व तथा भेद–भाव आरोपित करने की कोशिश की जा रही है। विभिन्न मन्त्रालयों ने भी पिछड़े क्षेत्रों के विकास के लिए विभिन्न योजनायें बनायी, जैसे– निर्धनता उन्मूलन कार्यक्रम, काम के बदले अनाज योजना। वर्तमान में चलायी जा रही मनरेगा योजना ने भी ग्रामीण क्षेत्रों के विकास में योगदान दिया है।इसीलिए भारतीय संविधान में संघवाद को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए अनेक मूलभूत संवैधानिक प्रावधानों द्वारा भारतीय सांस्कृतिक विविधता और विभिन्नता को मान्यता प्रदान की गयी है। भारत के भाषायी पुनर्गठन और राजभाषा विवाद के समुचित समाधान ने इस मामले में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

Keyword : क्षेत्रवाद, उपक्षेत्रवाद, सांस्कृतिक वर्चस्व, भाषायी पुनर्गठन, राजभाषा विवाद

भारत जैसे विशाल और विस्तृत तथा विभिन्नता वाले देश में राजनीतिक पहचान और वफादारी कई स्तरों पर काम करती है और लगातार अपने दायरों का विस्तार करती हैं। अपने क्षेत्र अथवा राज्य को विकसित करने के लिए, गरीबी दूर करने के लिए तथा सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए उस क्षेत्र के नागरिक, दबाव समूह तथा क्षेत्रीय दल प्रयत्नशील रहते हैं। किन्तु उनकी इस कोशिश को क्षेत्रवाद नहीं कहा जा सकता, यदि सकारात्मक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए स्वस्थ अन्तर्क्षेत्रीय प्रतियोगिता हो तो वह संघीय ढ़ांचे को मजबूती प्रदान करती है।[1] संघीय व्यवस्था के लिए क्षेत्रवाद और उपक्षेत्रवाद से बढ़कर अधिक बुनियादी कोई अन्य विचार नहीं हो सकता। क्षेत्रवाद तभी पनपता है जब किसी क्षेत्र अथवा राज्य को यह महसूस होता है कि उसके उपर सांस्कृतिक वर्चस्व तथा भेद–भाव आरोपित करने की कोशिश की जा रही है। इसीलिए भारतीय संविधान में संघवाद को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए अनेक मूलभूत संवैधानिक प्रावधानों द्वारा भारतीय सांस्कृतिक विविधता और विभिन्नता को मान्यता प्रदान की गयी है। भारत के भाषायी पुनर्गठन और राजभाषा विवाद के समुचित समाधान ने इस मामले में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। राज्यों के बीच, सांस्कृतिक वर्चस्व की भावना को समाप्त कर अन्तर्क्षेत्रीय संघर्षों के बहुत बड़े कारण का उन्मूलन कर दिया गया है।[2]

संघवाद अथवा केन्द्र राज्य के मध्य समन्वय की दृष्टि से ज्यादा गम्भीर समस्या राज्यों और क्षेत्रों के बीच आर्थिक असमानता की रही है। शुरु से ही स्वतन्त्र भारत का नेतृत्व क्षेत्रीय, आर्थिक विषकताओं की गम्भीरता को पूरी तरह पहचानता था, देश के सभी भागों का एक समान और सन्तुलित विकास सुनिश्चित करने की आवश्यकता के उत्तरदायित्व का बोध राष्ट्रीय सरकारों का था। इसीलिए पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से आर्थिक रूप से पिछड़े क्षेत्रों के तीव्र विकास के लिए महत्वपूर्ण प्रयास किये गये। विभिन्न मन्त्रालयों ने भी पिछड़े क्षेत्रों के विकास के लिए विभिन्न योजनायें बनायी, जैसे– निर्धनता उन्मूलन कार्यक्रम, काम के बदले अनाज योजना। वर्तमान में चलायी जा रही मनरेगा योजना ने भी ग्रामीण क्षेत्रों के विकास में योगदान दिया है। यद्यपि कई राज्य विकास के सोपान में उच्च श्रेणी में हैं, जबकि उत्तर–प्रदेश, बिहार, छत्तीसगारखण्ड जैसे राज्य निम्न या मध्यम श्रेणी में हैं। निःसन्देह क्षेत्रीय आर्थिक विषमता

राष्ट्रीय एकता और संघवाद के विरुद्ध एक टाइमबम ही है, फिर भी इससे संघवाद का बुनियादी सिद्धान्त प्रभावित नहीं है।[3]

संघीय व्यवस्था कुछ हद तक देश में पनप रहे सामाजिक, आर्थिक कारकों व दबाव समूहों से प्रभावित होती है। इन कारकों में राजनीतिक दल भी एक आवश्यक एवं महत्वपूर्ण कारक है। भारत में प्रारम्भ से ही एक राजनीतिक दल के रूप में कांगेस का प्रभुत्व रहा है, जिसने संघवाद को एक विशेष रूप दिया है। केन्द्र में कांग्रेस सरकार और राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकार वाले राज्यों के मध्य तनावपूर्ण सम्बन्ध रहे हैं। 1980—89 के काल में क्षेत्रवाद तथा अलगाववाद की शक्तिों के बल पकड़ने के कारण भारतीय संघीय प्रणाली में गम्भीर तनाव पैदा हुआ। कई राजनीतिक दलों का यह मानना था कि केन्द्र की अत्यधिक शक्तिशाली स्थिति के प्रतिक्रिया स्वरूप ये अलगाववादी शक्तियाँ उत्पन्न हुई थीं, जबकि कुछ अन्य दलों का यह विचार था कि केवल एक शक्तिशाली केन्द्र ही संघवाद के नकारात्मक प्रवृत्ति पर अंकुश लगा सकता है।[4]

भारतीय संघीय शासन व्यवस्था तथा क्षेत्रीय राजनीतिक दलों व दबाव समूहों के आपसी सम्बन्धों का विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होता है कि इन दलों तथा दबाव समूहों के अभ्युदय से भारतीय संघवादी व्यवस्था में तनाव उत्पन्न होना स्वाभाविक है। देश की एकता व अखण्डता का समर्थन करने वाले अधिकांश दल क्षेत्रीय या उपक्षेत्रीय हितों की बात करने वाले समूहों को अलगाववादी व विखण्डक मानते हैं, किन्तु यह सही उपागम नहीं है। जन्मभूमि से प्रेम, अपने क्षेत्र, राज्य या भाषा और संस्कृति के प्रति लगाव क्षेत्रवाद नहीं होता और न ही वह राष्ट्रीय एकता के लिए खतरनाक होता है, बल्कि वह राष्ट्रभक्ति के साथ उसी प्रकार सुसंगत होता है, जिस प्रकार किसी व्यक्ति का अपने परिवार के प्रति लगाव उसका पोषण, संरक्षण सामाजिक समृद्धि से सुसंगत होता है। देश की विशालता को देखते हुए क्षेत्रीय दलों तथा दबाव समूहों का जन्म लेना स्वाभाविक है। क्षेत्रीय दलों का विकास हमारी स्वस्थ लोकतान्त्रिक व्यवस्था के और सशक्त होने को प्रदर्शित करता है।[5] वास्तव में मजबूत संघ का अर्थ कमजोर इकाईयों से नहीं हो सकता है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि विविधता प्रगट करने वाले किसी भी देश में एकता का अर्थ एकरूपता नहीं होता और न ही एकीकरण का अर्थ केन्द्रीयकरण होता है। मजबूत संघ की अवधारणा के लिए यह आवश्यक है कि क्षेत्र, भाषा, धर्म, संस्कृति व परम्परा पर आधारित विविधताओं का दमन न करके इन्हें संघीय ढ़ांचे में प्रोत्साहित व पल्लवित किया जाय।[6]

भारतीय संघवाद में सशक्त केन्द्र को वरीयता देने का महत्वपूर्ण कारण भारत की राष्ट्रीय एकता व विविधता को बनाए रखना है क्योंकि भारतीय समाज में संस्कृति, सामाजिक विविधता के साथ भाषायी विभिन्नता भी पायी जाती है। जहां अनेक जाति, धर्म एवं भाषा को मानने वाले लोगों का निवास है। इस सांस्कृतिक विविधता को संरक्षित करने के लिए संघीय शासन को अपनाया गया है जिसमें प्रत्येक क्षेत्र की सांस्कृतिक स्वायत्ता को बनाए रखा जाए तथा प्रशासनिक एकता का निर्माण किया जाए। इन सबके बावजूद भारतीय संघ में सहयोगी संघवाद की प्रवृत्तियां ज्यादा दिखाई देती है। संघीय व्यवस्था का व्यवहारिक रूप इस तथ्य पर निर्भर नही करता कि समाज में लिखित संविधान अथवा सामान्य कानूनी क्या है, अपितु देश में पनप रहे उन अनेक सामाजिक तथा आर्थिक कारको पर होता है जो राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित करते है। उन कारकों में राजनीतिक दल भी एक आवश्यक एवं महत्वपूर्ण कारक है। भारत में कांगेस का राजनीतिक दल के रूप में लम्बे समय तक प्रभुत्व रहा है। संघवाद को एक विभिषक रूप देने में कांग्रेस के प्रभाव की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है।[7]

इस प्रकार भारतीय संघवाद का सामान्य स्वरूप न तो पूर्णतः संघात्मक रहा है न पूर्ण एकात्मक। मोरिस जोन्स के शब्दों में इसका सामान्य स्वरूप सरकारी सौदेबाजी का रहा है, प्रत्येक राज्य पहल अपनी क्षमतानुसार केन्द्र से सौदेबाजी करता है तथा जब सौदे की स्थिति चरम पर पहुंच जाती है तो वह केन्द्र से सहयोग करने लग जाता है। "जहां संविधान में बल संघ एवं राज्यों की शक्तियों के सीमांकन पर है, व्यवहार में दोनों सहकारी सौदेबाजी होती है।" फलस्वरूप राज्यों की केन्द्राभिमुखता बढ़ती चली गयी जो 1975 में आन्तरिक आपातकाल की उद्घोषणा के साथ केन्द्र के एकाधिकार में रूपातंरित हो गयी। आपातकाल के दौरान संविधान में संशोधन के जरिये उच्चतम न्यायालय की न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति को बहुमत से परिसीमित कर दिया गया।[8] परिणाम स्वरूप राज्यों की स्वायत्तता पर केन्द्र का स्वेच्छाचारी हस्तक्षेप बढ़ता चला गया। राज्यों के पास केन्द्र के सम्मुख बिना शर्त समर्पण के अलावा कोई विकल्प नही बचा था।

राजनीति में क्षेत्रीय दलों का व्यापक प्रभाव स्थापित हुआ है तथा केन्द्र सरकार को राजनीतिक मजबूरियों के चलते क्षेत्रीय दलों को केन्द्रीय करणकारी राजनीति के समर्थक रहे हैं, लेकिन 'विवशता की राजनीति' ने दोनों को विकेन्द्रीकरण एवं स्वायत्तता के प्रति संवेदनशील बना दिया है। दूसरी ओर क्षेत्रीय दलों ने भी अपने समर्थन की केन्द्र सरकार से भरपूर कीमत वसूल की है। वे या तो सीधे तौर पर केन्द्रीय सत्ता में सहभागी रहे है या अपने राज्यों के लिये केन्द्र सरकार से भारी–भरकम पैकेज हासिल करते रहे है। इसी क्रम मे ंवे अपने राज्य में प्रतिद्वंदी क्षेत्रीय दल को परास्त करने के लिये केन्द्र पर यह दबाव डालने से भी नही चूकते कि वहां राष्ट्रपति शासन लागू किया जाये। बिहार, पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु में इस तरह की मांग समय पर उठती रही है।[9] यह निश्चय ही संघवाद के लिये हानिकारक हो सकता था, किन्तु 1994 में बोम्बई केस में उच्चतम न्यायालय के निर्णय के बाद स्थितियां संघवाद के लिये काफी अनुकूल हो गयी है।

स्पष्ट है कि भारतीय संघवाद एक विकासशील अवधारणा है जो विभिन्न राजनीतिक एवं गैर–राजनीतिक कारकों से स्वरूपित होती है। संघवाद ऐतिहासिक भारत में विविधता को मान्यता देता है, ताकि एकता की पुष्टि हो सके। एक प्रक्रिया के रूप में संघवाद राजनीतिक समाज के विविध तत्वों को उनकी विविधताओं और विभिन्नताओं के साथ एक होने का अवसर प्रदान करते हैं । जिसमें सरकारों के दो स्तर अपने अधिकार क्षेत्र में सीमित रखे जाते हैं। "संघवाद शक्ति विभाजन का तरीका है ताकि सामान्य और क्षेत्रीय सरकारें एक अधिकार क्षेत्र की सीमा में रहें और साथ ही समन्वित और स्वतन्त्र भी रहें।"[10] संघात्मक सरकार वह पद्धति है जिसमें समस्त शासकीय शक्ति एक केन्द्रीय सरकार तथा उन विभिन्न राज्यों अथवा क्षेत्रीय उपविभागो ं की सरकारों के बीच विभाजित एवं वितरित रहती है जिनको मिलाकर संघ बनता है। संघवाद लोकतंत्र का वह भार है जहां संर्वधानवाद तथा राजनीतिक दल इत्यादि संस्थाएं उसी सैद्धांतिक रूप में कार्य करती है। जिस रूप में एक बहुलवादी लोकतंत्र को उनकी आवश्यकता होती है। संघवाद में शक्तियों के र्वभाजन के लिए संर्वधान आवश्यक होता है। संघवाद के काम करने के तनयमों को क्रियाशील बनाने के लिए संघ और उसमें शामिल इकाईयों के बीच संवैधानिक व्यवस्था के प्रति मतैक्य की आवश्यकता होता है।[11]

संघवाद के लिए आवश्यक है कि संविधान सर्वोच्च हो अर्थात् वह समस्त शासकीय शक्तियों का स्रोत एवं विभाजक हो। शक्ति–वितरण तो कम से कम लिखित रूप में हो तथा उसके इस भाग में संशा`धन की प्रक्रिया कठोर हो। भारतीय संविधान इन तीनों लक्षणों से युक्त है। एक संहिता व दस्तावेज के रूप में यह लिखित स ंविधान है, जिसमें मूल रूप से 395 अनुच्छेद एवं 12 अनुसूचियां हैं। संविधान की सातवीं अनुसूची में शक्ति विभाजन लिपिबद्ध रूप

में मौजूद है। संविधान के अधिकांश अनुच्छेदों में लचीलेपन के साथ संशोधन किया जा सकता है, किन्तु शक्ति–वितरण से सम्बन्ध अनुच्छेदों में संशोधन संसद के दोनों सदनों के विशिष्ट बहुमत के साथ–साथ आधे राज्य–विधानमण्डलों की स्वीकृति से ही किया जा सकता है।[12] उल्लेखनीय है कि संघ एवं राज्यों को अपनी–अपनी शक्तियां स ंविधान से प्राप्त है, न कि एक दूसरे से। इस प्रकार भारतीय संविधान संघवाद के अनुरूप सर्वोच्च है।

वस्तुतः परिसंघवाद की प्रकृति किसी देश के ऐतिहासिक विकास एवं आवश्यकता के आधार पर निर्भर करती है। प्रत्येक देश में एक ही पद्धति के संघवाद की आशा करना असम्भव है। संघवाद, स्थान और समय के अनुसार बदलता रहता है। किसी देश में उसका क्या स्वरूप अपनाया जाये, वह देश– विदेश की ऐतिहासिक, भौगोलिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियो ं पर आधारित करता है, जो चीज एक देश के लिए अच्छी है, आवश्यक नही ं कि दूसरे देश के लिये भी अच्छी हो। अलग–अलग देश में संघीय सिद्धान्त का रूप भिन्न हो सकता है और उक्त कारणों से ऐसा होना सर्वथा युक्तिसंगत भी है। संघवाद की जो पद्धति अमेरिकी संविधान में लागू होती है, आवश्यक नहीं कि वह भारत के लिये भी अच्छी हो। दोनों देशों की अपनी अलग–अलग परिस्थितियां एवं आवश्यकताएं हैं और उन्हीं के अनुसार परिसंघवाद के सिद्धान्त को भी हमने संशोधित कर लिया है।[13] अमेरिका का संघवाद, अमेरिका के लिये अच्छा हो सकता है, भारत के लिए नहीं। भारत ने परिसंघवाद का जो स्वरूप संविधान में समाविष्ट किया है, वह उसके लिये अच्छा है। सिद्धान्ततः अमेरिका का संविधान पूर्ण संघीय संविधान है, लेकिन व्यवहारतः वह केन्द्रोन्मुखी है।

वस्तुतः केन्द्र को शक्तिशाली इसलिये बनाया गया है कि राष्ट्र की एकता एवं सम्प्रभुता को अक्षुण्ण रखा जा सके। प्रान्तीय सरकारों से ऐसी अपेक्षा नहीं की जा सकती है। 'एस०आर० बोम्मई बनाम भारत संघ' के मामले में उच्चतम न्यायालय के बहुमत न्यायधीशों का यह अभिमत है कि भारतीय संविधान एक परिस ंघात्मक संविधान और परिसंघवाद के सिद्धान्तों का ही प्रबलतम ढांचा है। आपात घोषणा का परिणाम यह होता है कि देश का सम्पूर्ण प्रशासन केन्द्र में निहित हो जाता है तथा संसद पूरे देश के लिये विधि बनाने के लिये सक्षम हो जाती है। राज्यों को केन्द्र के निर्देशानुसार अपना प्रशासन चलाना होता है। इन उपबन्धों के परिणामस्वरूप हमारा स ंविधान एकात्मक रूप धारण कर लेता है।[14] संघीय व्यवस्था की सुदृढ़ता एंव केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में समायोजन, सहयोग, समन्वय एंव सह–अस्तित्व की भावना को विकसित करने के लिए संविधान में अनेक प्रावधान किए गए हैं। भारतीय संविधान के ग्यारहवें भाग के द्वितीय अध्याय में केन्द्र और राज्यों के मध्य प्रशासनिक सम्बन्धों की चर्चा की गई है। संविधान के अनुच्छेद 73 के अन्तर्गत केन्द्र की प्रशासनिक शक्ति उन विषयों तक सीमित है जिन पर संसद को विधि निर्माण का अधिकार प्रदत्त है। इसी प्रकार संविधान के अनुच्छेद 162 के तहत राज्यों की प्रशासनिक शक्तियॉ उन विषयों तक सीमित है जिन पर राज्य विधानसभाओं को कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है। समवर्ती सूची के विषयों के सन्दर्भ में प्रशासनिक अधिकार सामान्यतया राज्यों में निहित हैं परन्तु इन विषयों पर राज्य की प्रशासनिक शक्तियों का संघ की ऐसी प्रशासनिक शक्तियों द्वारा सीमित रखा गया है जो या तो संविधान द्वारा या विधि द्वारा प्रदत्त है।

संघीय शासन का मूल्या ंकन संविधान के अध्ययन के द्वारा पूर्णत : संभव नहीं है बल्कि संघीय शासन के वास्तिविक कार्यकरण को देखना आवश्यक है। भारत में राज्यों के मुख्यमंत्री स्वतन्त्र एंव पृथक शक्तियों का प्रयोग करते हैं और व अपनी शक्तियों के प्रयोग के लिए संघ सरकार पर निर्भर नहीं हैं। इसलिए संघीय शासन प्रकार्यात्मक और राजनीतिक अवधारणा भी है, जिसे केवल विधि के अध्ययन के द्वारा नहीं समझा जा सकता। भारत का संविधान अमेरिका, स्विट्जरलैण्ड और आस्ट्रेलिया की तरह एक परम्परागत संघीय व्यवस्था से भिन्न संविधान है और इसमें कई

एकात्मक या गैर–संघीय विशेषताएं हैं, जैसे–केन्द्र के पक्ष में शक्ति का संतुलन है। यह संविधान विशेषज्ञों द्वारा भारतीय संविधान के संघीय चरित्र को चुनौती देने के लिए पर्याप्त है। इसलिए केसी. व्हीयर ने भारतीय संविधान को 'अल्प संघीय' करार दिया है।[15] भारतीय संविधान के एकात्मक होने के उत्तरदायी दो कारण हैं– पहला, वित्तीय मामले में केन्द्र का प्रभुत्व एंव राज्यो की केन्द्रीय अनुदान पर निर्भरता और दूसरा, शक्तिशाली योजना आयोग द्वारा राज्य की विकास प्रक्रिया को नियंत्रित करने की व्यवस्था। ग्रेनविल ऑस्टिन कहते हैं कि ''यह सरकारी संघ व्यवस्था है। यद्यपि भारत के संविधान ने मजबूत केन्द्र सरकार का निर्माण किया है, इसके राज्यों को भी कमजोर नहीं किया गया है। यह एक नये प्रकार का संघ है जो इसकी खास विशेषताओं को पूरा करता है।'' पॉल एप्पलबी कहते हैं कि भारतीय संविधान पूरी तरह संघीय हैं। लेकिन मोरिस जॉन्स इसे 'सहमति वाला संघ' कहते है। कार्यपालिका क्षेत्रों में संघ सरकार राज्यों को निर्देश देता है तथा वित्तीय क्षेत्रों में राज्य, संघ के अनुदान पर निर्भर होते हैं, जिससे यह प्रतीत होता है कि संघ और राज्य एक–दूसरे के समकक्ष नहीं है, बल्कि राज्य, संघ पर निर्भर है। इसलिए आलोचकों ने भारतीय संघीय व्यवस्था को अर्द्धसंघात्मक कहा है।[16]

भारतीय संघवाद की सबसे अधिक सही व्याख्या यह होगी कि विभिन्न कालों में इसके विभिन्न रूप व्यवहार में देखने को मिलते हैं। भारत में एक प्रकार का संघवाद नहीं, अनेक प्रकार के संघवाद हैं। एक ही समय में अलग–अलग राज्यों से केन्द्र के भिन्न–भिन्न प्रकार के सम्बन्ध रहे हैं। कभी इन सम्बन्धों की व्याख्या 'सहयोगी संघवाद' के आधार पर तो कभी 'एकात्मक संघवाद' के आधार पर और प्रतियोगी दल व्यवस्था के युग में 'सौदेबाजी वाली संघ व्यवस्था' के आधार पर की जा सकती है। वैसे तो ये तीनों ही प्रवृत्तियॉ ही संघात्मक व्यवस्था में एक साथ विघमान रहती हैं, परन्तु कभी–कभी ऐतिहासिक सा बाहरी घटनाओं के कारण इनमें से किसी एक की प्रमुखता इसे अन्य दो से अलग श्रेणी की बना देती है। यह सत्य है कि भारतीय संघीय व्यवस्था में संघ ज्यादा शक्तिशाली है तथा संघ में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति विघमान है, परन्तु संघीय शासन में संघ एंव राज्यों के बीच सहयोग के महत्वपूर्ण बिन्दु भी उल्लिखित हैं। इसलिए भारतीय संघ को सहकारी संघीय व्यवस्था कहा जाता है।

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि संघीय राज्य की इकाइयों को शक्तियों की दृष्टि से यथासंभव केन्द्र के समान स्थिति प्रदान करना संघ निर्माण हेतु एक आवश्यक पूर्वशर्त है। शक्तियों के वितरण के अन्तर्गत किसी प्रकार की विषमता संघीय व्यवस्था के संचालन में बाधक है। यह विषमता प्रान्तों के राजनीतिक व्यवहार में परिलक्षित होती है। शक्ति वितरण के साथ ही क्षेत्रीय आर्थिक असन्तुलनों को दूर करने के प्रयास किये जाने चाहिये। आर्थिक असन्तुलन आन्दोलनों को जन्म देते हैं तथा राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करते हैं।

संदर्भ सूची

1. दुर्गादास बसु, भारत का संविधान, एक परिचय, लेन्सिस, नेक्सिस प्रकाशन, पृष्ठ 72
2. के.सी. व्हीयर, फेडरल गवर्नमेंट, 1951, पृष्ठ 28
3. ए.एस. नारंग, भारतीय शासन एवं राजनीति, गीतांजली पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1998, पृष्ठ 75
4. ग्रेनविल ऑस्टिन, द इण्डियन कॉस्टीट्यूशन, कार्नर स्टोन ऑफ नेशन 1966, पृष्ठ 186
5. सुभाष कश्यप, हमारा संविधान, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1995, पृष्ठ 64
6. पी.एम. सईद, भारतीय राजनीति व्यवस्था, भारत बुक ट्रस्ट, 2011, पृष्ठ 91

7. आलोक श्रीवास्तव : भारत में संघवाद – उद्विकास एवं प्रवृत्तियां, सम्पादित, भारतीय सरकार एवं राजनीति, प्रो०आर०पी० जोशी, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर पृष्ठ 244
8. उपरोक्त, पृष्ठ8 245
9. अभिमत, सुंनंदा के दत्ता रे, पायनियर हिन्दी दैनिक, जुलाई, 2011, पृष्ठ 417
10. डी०एल० मजूमदार : ए नोट आन एप्रोच टू द स्टडी ऑफ सेन्टर–स्टेट रिलेसन्स पृष्ठ 106
11. उपरोक्त, पृष्ठ 107
12. ए. एच. बिर्चरू उद्धृत डॉ. पुखराज जैन व डॉ. बी. एल. फाड़िया, भारतीय शासन व राजनीति, पृष्ठ 162
13. प्रो० के०सी० व्हेयर : फेडरल गवर्नमेन्ट, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, प्रेस लन्दन, 1963 पृष्ठ 16.
14. डॉ० जयनारायण पाण्डेय : भारत का संविधान, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी इलाहाबाद, पृष्ठ 459
15. मेरिस जोन्स (1971), गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स ऑफ इंडिया, लन्दन : हचिसन, पृष्ठ 150
16. डी. डी. बसु (2005), भारत का संविधान : एक परिचय, नई दिल्ली : वाधवा एण्ड कम्पनी, पृष्ठ 52